International Journal of Web of Multidisciplinary Studies
(Peer-Reviewed, Open Access, Fully Refereed International Journal)
website: *https://ijwos.com* OPEN ACCESS E-ISSN : 3049-2424
Volume 3 Issue 3 , March 2026
DOI: https://doi.org/10.71366/ijwos03032647812

बिहार की अनुसूचित जनजातियों का राजनीतिक प्रतिनिधित्वः एक विश्लेषण

मनीष कुमार
शोध छात्र
राजनीति विज्ञान विभाग
टी. एम. बी. यु., भागलपुर

Article Info

Article History:

Published:11 March 2026

Publication Issue:
Volume 3, Issue 3
March-2026

Page Number:
242-251

Corresponding Author:
मनीष कुमार

Abstract:

बिहार की अनुसूचित जनजातियाँ राज्य की सामाजिक–सांस्कृतिक संरचना, ऐतिहासिक विरासत तथा क्षेत्रीय विविधता का एक विशिष्ट और महत्त्वपूर्ण अंग हैं। यद्यपि इनकी जनसंख्या का अनुपात अपेक्षाकृत कम (लगभग 1–1.5 प्रतिशत) है, फिर भी लोकतांत्रिक व्यवस्था में प्रतिनिधित्व का प्रश्न केवल संख्यात्मक आधार पर नहीं, बल्कि समानता, न्याय और समावेशन के सिद्धांतों पर आधारित होता है। इस दृष्टि से बिहार में अनुसूचित जनजातियों का राजनीतिक प्रतिनिधित्व एक गंभीर अकादमिक और नीतिगत विमर्श का विषय बन जाता है। भारतीय संविधान द्वारा प्रदत्त आरक्षण, राजनीतिक संरक्षण तथा सामाजिक न्याय के प्रावधानों का उद्देश्य इन समुदायों को मुख्यधारा की राजनीतिक प्रक्रिया में सहभागी बनाना है, किन्तु यह आवश्यक है कि इन संवैधानिक उपायों की वास्तविक प्रभावशीलता का विश्लेषण किया जाए। प्रस्तुत शोध–लेख में बिहार की विधान सभा और लोकसभा में अनुसूचित जनजातियों के प्रतिनिधित्व की ऐतिहासिक पृष्ठभूमि, निर्वाचन क्षेत्रों के आरक्षण की संरचना, दलगत प्रतिस्पर्धा की प्रकृति, चुनावी व्यवहार की प्रवृत्तियाँ तथा नेतृत्व–निर्माण की प्रक्रिया का विस्तृत अध्ययन किया गया है। अध्ययन यह भी स्पष्ट करता है कि आरक्षित निर्वाचन क्षेत्र मात्र प्रतिनिधियों की संख्या बढ़ाने का साधन हैं या वे जनजातीय समाज की आकांक्षाओं और समस्याओं को नीति–निर्माण के केंद्र में लाने में सक्षम रहे हैं। राजनीतिक दलों की रणनीतियों, घोषणापत्रों, उम्मीदवार चयन की प्रक्रिया तथा चुनाव प्रचार में जनजातीय मुद्दों की प्रस्तुति का विश्लेषण इस बात को समझने में सहायक है कि जनजातीय मतदाताओं को किस प्रकार राजनीतिक विमर्श में स्थान दिया जाता है। शोध में यह भी परीक्षण किया गया है कि निर्वाचित जनजातीय प्रतिनिधियों की भूमिका केवल प्रतीकात्मक उपस्थिति तक सीमित है या वे विधायी बहसों, विकास योजनाओं और संसाधन–वितरण की प्रक्रिया में सक्रिय हस्तक्षेप कर पाए हैं। सामाजिक–आर्थिक संकेतकों जैसे शिक्षा का स्तर, स्वास्थ्य सेवाओं की उपलब्धता, भूमि–अधिकार, वनाधिकार, रोजगार के अवसर तथा बुनियादी ढाँचे के विकास को राजनीतिक प्रतिनिधित्व से जोड़कर यह आकलन किया गया है कि क्या प्रतिनिधित्व ने वास्तविक जीवन–स्तर में सकारात्मक परिवर्तन उत्पन्न किए हैं। साथ ही, पंचायत राज संस्थाओं और स्थानीय निकायों में जनजातीय भागीदारी, महिला प्रतिनिधित्व, नागरिक समाज की सक्रियता तथा सामाजिक आंदोलनों की भूमिका को भी विश्लेषण के दायरे में शामिल किया गया है।

यह अध्ययन मात्र प्रतिनिधित्व की सांख्यिकीय उपस्थिति तक सीमित नहीं है, बल्कि लोकतांत्रिक सहभागिता के गुणात्मक आयामों जैसे राजनीतिक जागरूकता, मतदाता सक्रियता, नेतृत्व की स्वायत्तता और नीतिगत प्रभावशीलता का भी मूल्यांकन करता है। इसके माध्यम से यह समझने का प्रयास किया गया है कि क्या संवैधानिक आरक्षण और लोकतांत्रिक संस्थागत ढाँचा अनुसूचित जनजातियों के लिए वास्तविक सशक्तिकरण का माध्यम बन पाया है, या अब भी संरचनात्मक बाधाएँ, सामाजिक असमानताएँ और राजनीतिक निर्भरता उनके पूर्ण विकास में अवरोध उत्पन्न कर रही हैं। अंततः शोध इस निष्कर्ष की ओर संकेत करता है कि जनजातीय समुदायों के प्रभावी और सार्थक राजनीतिक प्रतिनिधित्व के लिए केवल आरक्षण पर्याप्त नहीं है, बल्कि शिक्षा, आर्थिक सुदृढ़ता, नेतृत्व–विकास, प्रशासनिक

Copyright © 2025 The Author(s) : This is an open access article under the CC BY license (http://creativecommons.org/licenses/by-nc/4.0/)

संवेदनशीलता तथा समावेशी नीतिगत सुधारों की आवश्यकता भी उतनी ही अनिवार्य है, ताकि लोकतंत्र की मूल भावना समान भागीदारी और न्यायपूर्ण प्रतिनिधित्व को वास्तविक रूप दिया जा सके।[1]

Keywords: अनुसूचित जनजाति, राजनीतिक प्रतिनिधित्व, आरक्षण व्यवस्था, लोकतांत्रिक सहभागिता, लोकसभा प्रतिनिधित्व, राजनीति

भारतीय लोकतांत्रिक व्यवस्था की बुनियाद सामाजिक न्याय, समान अवसर और समावेशी शासन की अवधारणा पर आधारित है। स्वतंत्रता प्राप्ति के पश्चात संविधान–निर्माताओं ने यह स्पष्ट रूप से स्वीकार किया कि भारतीय समाज में ऐतिहासिक रूप से वंचित एवं हाशिये पर स्थित समुदायों को बिना विशेष संवैधानिक संरक्षण के वास्तविक समानता प्राप्त नहीं हो सकती। इसी दृष्टि से अनुसूचित जनजातियों के लिए राजनीतिक प्रतिनिधित्व, शैक्षिक अवसरों और प्रशासनिक भागीदारी के क्षेत्र में विशेष प्रावधान किए गए।[2] भारतीय संविधान के अनुच्छेद 330 और 332 के अंतर्गत क्रमशः लोकसभा तथा राज्य विधानसभाओं में अनुसूचित जनजातियों के लिए सीटों का आरक्षण सुनिश्चित किया गया है, जिससे वे विधायी संस्थाओं में अपनी भागीदारी दर्ज करा सकें और राष्ट्रीय व प्रांतीय स्तर पर नीति–निर्माण की प्रक्रिया में सक्रिय भूमिका निभा सकें। यह व्यवस्था केवल संख्या–आधारित प्रतिनिधित्व का साधन नहीं, बल्कि लोकतंत्र की समावेशी और न्यायपूर्ण प्रकृति को सुदृढ़ करने का एक संस्थागत प्रयास है। बिहार के संदर्भ में अनुसूचित जनजातियों का राजनीतिक प्रतिनिधित्व एक विशिष्ट अध्ययन का विषय है, क्योंकि राज्य में उनकी जनसंख्या का अनुपात अपेक्षाकृत कम है, फिर भी उनकी ऐतिहासिक, सांस्कृतिक और क्षेत्रीय उपस्थिति अत्यंत महत्त्वपूर्ण रही है।[3] संथाल, उरांव, मुंडा, हो तथा अन्य जनजातीय समुदायों ने औपनिवेशिक शासन के विरुद्ध आंदोलनों, सामाजिक सुधार प्रयासों और स्थानीय राजनीतिक संगठनों के माध्यम से अपनी पहचान और अधिकारों के लिए संघर्ष किया। विशेष रूप से संथाल परगना क्षेत्र में जनजातीय चेतना और सामुदायिक संगठन ने राजनीतिक परिदृश्य को प्रभावित किया है। यद्यपि राज्य पुनर्गठन और झारखंड के गठन के बाद बिहार में जनजातीय जनसंख्या का अनुपात और भी सीमित हुआ, तथापि शेष जनजातीय समुदायों की राजनीतिक उपस्थिति और उनके अधिकारों का प्रश्न अब भी उतना ही प्रासंगिक है।[4]

राजनीतिक प्रतिनिधित्व को यदि व्यापक अर्थों में समझा जाए, तो यह केवल निर्वाचित सदस्यों की उपस्थिति तक सीमित नहीं है। यह उस प्रक्रिया का संकेतक है जिसके माध्यम से कोई समुदाय शासन–व्यवस्था में अपनी आवाज को प्रभावी ढंग से प्रस्तुत कर सके, अपने हितों की रक्षा कर सके और विकास नीतियों को अपनी आवश्यकताओं के अनुरूप प्रभावित कर सके। प्रतिनिधित्व की वास्तविकता तब प्रमाणित होती है जब निर्वाचित प्रतिनिधि संसदीय या विधायी बहसों में सक्रिय हस्तक्षेप करें, बजटीय आवंटन और विकास योजनाओं में जनजातीय क्षेत्रों की प्राथमिकताओं को सुनिश्चित करें, तथा प्रशासनिक निर्णयों में समुदाय–आधारित दृष्टिकोण को स्थान दिलाएँ।[5] यदि यह प्रक्रिया प्रभावी रूप से संचालित नहीं होती, तो आरक्षण व्यवस्था केवल औपचारिक उपस्थिति तक सीमित रह जाती है और लोकतांत्रिक सशक्तिकरण का उद्देश्य अधूरा रह जाता है। बिहार की राजनीति में अनुसूचित जनजातियों की भूमिका को समझने के लिए निर्वाचन–राजनीति की प्रकृति, आरक्षित निर्वाचन क्षेत्रों की संरचना, राजनीतिक दलों की रणनीतियाँ, उम्मीदवार चयन की प्रक्रिया, तथा मतदाता व्यवहार की प्रवृत्तियों का विश्लेषण आवश्यक है।[6] यह भी देखा जाना चाहिए कि क्या राजनीतिक दल जनजातीय मुद्दों को अपने घोषणापत्रों और नीतिगत प्राथमिकताओं में समुचित स्थान देते हैं या उन्हें केवल चुनावी गणित के संदर्भ में देखते हैं। इसके अतिरिक्त, पंचायत राज संस्थाओं और स्थानीय निकायों में जनजातीय प्रतिनिधित्व, महिला नेतृत्व की भागीदारी, तथा नागरिक समाज संगठनों की सक्रियता भी राजनीतिक सशक्तिकरण के महत्त्वपूर्ण आयाम हैं।[7]

प्रस्तुत अध्ययन इसी व्यापक परिप्रेक्ष्य में बिहार की अनुसूचित जनजातियों के राजनीतिक प्रतिनिधित्व का विश्लेषण करता है। यह मात्र सांख्यिकीय आंकड़ों का संकलन नहीं है, बल्कि प्रतिनिधित्व की गुणवत्ता, प्रभावशीलता और संरचनात्मक सीमाओं का आलोचनात्मक मूल्यांकन है। अध्ययन यह समझने का प्रयास करता है कि संवैधानिक प्रावधानों और लोकतांत्रिक संस्थाओं के होते हुए भी क्या जनजातीय समुदाय नीति–निर्माण की प्रक्रिया में वास्तविक भागीदारी प्राप्त कर सके हैं, अथवा वे अब भी सामाजिक–आर्थिक पिछड़ेपन, राजनीतिक निर्भरता और सीमित संसाधनों जैसी बाधाओं से जूझ रहे हैं। अंततः यह प्रस्तावना इस व्यापक प्रश्न की ओर संकेत करती है कि बिहार में अनुसूचित जनजातियों का राजनीतिक प्रतिनिधित्व किस

सीमा तक लोकतांत्रिक आदर्शों समानता, सहभागिता और न्याय को मूर्त रूप प्रदान कर पाया है, तथा भविष्य में इसे अधिक प्रभावी और सशक्त बनाने के लिए किन संरचनात्मक सुधारों की आवश्यकता है।[8]

ऐतिहासिक पृष्ठभूमि

वर्तमान बिहार में अनुसूचित जनजातियों के राजनीतिक प्रतिनिधित्व की गहन समझ प्राप्त करने के लिए हमें उनके ऐतिहासिक विकास, सामाजिक–सांस्कृतिक परिस्थितियों, प्रशासनिक संरचना, और राजनीतिक संघर्षों का समग्र विश्लेषण करना आवश्यक है। बिहार में जनजातीय समुदाय जैसे संथाल, उरांव, मुंडा, भील और अन्य सदियों से अपने विशिष्ट सामाजिक–सांस्कृतिक ढांचे और परंपराओं के साथ निवास करते आए हैं। हालांकि, औपनिवेशिक काल में जनजातीय क्षेत्रों को प्रशासनिक दृष्टि से अलग रखा गया था। ब्रिटिश शासन ने इन क्षेत्रों को अपवर्जित क्षेत्र और आंशिक रूप से अपवर्जित क्षेत्र। के रूप में वर्गीकृत किया, जिससे इन क्षेत्रों में सामान्य विधान और राजनीतिक संस्थाओं का प्रभाव सीमित हो गया। इसका परिणाम यह हुआ कि जनजातियों को औपचारिक राजनीतिक प्रतिनिधित्व और निर्णय–प्रक्रियाओं में भागीदारी का अवसर नहीं मिल पाया।[9] इस पृथक्करण ने उनकी सामाजिक और राजनीतिक चेतना को मुख्यधारा से दूर रखा और उन्हें प्रशासनिक नियंत्रण तथा स्थानीय अधिकारीयों के अधीन कर दिया। औपनिवेशिक शासन के दौरान भूमि और वन से संबंधित नीतियों ने जनजातीय समुदायों की पारंपरिक आजीविका और सामाजिक संरचना को भी गंभीर रूप से प्रभावित किया। स्थायी बंदोबस्त, भूमि–राजस्व प्रणाली, और वन अधिनियमों के कारण पारंपरिक सामुदायिक भूमि अधिकार कमजोर हुए और महाजनी शोषण बढ़ा। झूम खेती, वनोपज संग्रह और चराई जैसी आजीविकाएँ बाधित हुईं।[10] इस आर्थिक शोषण और सामाजिक असमानता के विरोध में संथाल विद्रोह (1855–56) और बिरसा मुंडा के नेतृत्व में उलगुलान (1899–1900) जैसे व्यापक आंदोलन हुए। इन विद्रोहों ने न केवल ब्रिटिश शासन की नीतियों को चुनौती दी, बल्कि जनजातीय समुदायों में राजनीतिक अधिकार और सामाजिक न्याय के प्रति जागरूकता और चेतना को भी बढ़ावा दिया। यह ऐतिहासिक संघर्षजन्य चेतना आगे चलकर संविधानिक अधिकारों और राजनीतिक प्रतिनिधित्व की मांग का आधार बनी।[11]

स्वतंत्रता के बाद भारतीय संविधान ने इन ऐतिहासिक असमानताओं और उपेक्षाओं को ध्यान में रखते हुए अनुसूचित जनजातियों के लिए विशेष संरक्षण और राजनीतिक अधिकार सुनिश्चित किए। संविधान के अनुच्छेद 330 और 332 के माध्यम से लोकसभा और राज्य विधानसभाओं में अनुसूचित जनजातियों के लिए आरक्षित सीटों का प्रावधान किया गया। इसके अलावा, पाँचवीं अनुसूची और संबद्ध कानूनी प्रावधानों के माध्यम से अनुसूचित क्षेत्रों के प्रशासनिक अधिकार और स्वायत्तता का संरक्षण किया गया। इन उपायों का उद्देश्य केवल संख्यात्मक प्रतिनिधित्व सुनिश्चित करना नहीं था, बल्कि यह सुनिश्चित करना भी था कि जनजातीय समुदाय नीति–निर्माण, संसाधन वितरण और निर्णय प्रक्रिया में वास्तविक भागीदारी कर सकें।[12] संयुक्त बिहार के समय, छोटानागपुर और संथाल परगना जैसे क्षेत्रों में जनजातीय जनसंख्या का घनत्व अधिक होने के कारण उनके लिए आरक्षित सीटें प्रभावी राजनीतिक उपस्थिति और नेतृत्व का अवसर प्रदान करती थीं। इन क्षेत्रों में जनजातीय समुदाय ने भूमि, स्वायत्तता और क्षेत्रीय पहचान के मुद्दों को राजनीतिक विमर्श के केंद्र में रखा, जिससे उनका प्रतिनिधित्व केवल चुनावी आंकड़ों तक सीमित नहीं रहा बल्कि एक व्यापक क्षेत्रीय आंदोलन का रूप ले लिया। हालाँकि वर्ष 2000 में झारखंड के गठन ने बिहार की जनसांख्यिकीय और राजनीतिक संरचना में मौलिक परिवर्तन ला दिया।[13] विभाजन के पश्चात अधिकांश जनजातीय आबादी झारखंड में चली गई, जिससे बिहार में जनजातियों की संख्या और प्रतिशत दोनों में गिरावट आई। इस परिवर्तन का प्रत्यक्ष परिणाम यह हुआ कि विधान सभा और लोकसभा में आरक्षित सीटों की संख्या घट गई और निर्वाचन क्षेत्रों का परिसीमन भी जनजातीय समुदाय के राजनीतिक प्रभाव को सीमित कर गया। परिणामस्वरूप, बिहार में जनजातीय राजनीति का स्वरूप अपेक्षाकृत कमजोर और क्षेत्रीय ताकतों पर निर्भर हो गया, जबकि पूर्ववर्ती संयुक्त बिहार में यह एक शक्तिशाली और सशक्त राजनीतिक इकाई के रूप में उभरती थी।[14]

वर्तमान परिप्रेक्ष्य में देखा जाए तो बिहार में अनुसूचित जनजातियों का राजनीतिक प्रतिनिधित्व कई चुनौतियों और संरचनात्मक बाधाओं से जूझ रहा है। उनकी भौगोलिक विखंडितता और सीमित जनसंख्या के कारण मुख्यधारा की राजनीतिक पार्टियों में उनकी भूमिका अक्सर सीमित रह जाती है। पंचायती राज संस्थाओं में आरक्षण स्थानीय स्तर पर नेतृत्व और राजनीतिक भागीदारी के अवसर प्रदान करता है, लेकिन राज्य और राष्ट्रीय स्तर पर प्रभावी प्रतिनिधित्व और नीति निर्माण में उनकी भागीदारी अभी भी अपेक्षित स्तर तक नहीं पहुँच पाई है। इसके अलावा, राजनीतिक दलों की दलगत रणनीतियाँ और

मतदाता व्यवहार भी जनजातीय मुद्दों को प्राथमिकता देने में असमर्थ रहते हैं, जिससे उनकी आवाज हाशिए पर चली जाती है। समग्र रूप से देखा जाए तो बिहार में अनुसूचित जनजातियों के राजनीतिक प्रतिनिधित्व को केवल वर्तमान चुनावी आंकड़ों या आरक्षण संख्या तक सीमित समझना उचित नहीं है।[15] इसे समझने के लिए हमें औपनिवेशिक नीति, भूमि और वन अधिनियमों, आर्थिक शोषण, प्रतिरोध आंदोलनों, संवैधानिक प्रावधानों, संयुक्त बिहार की राजनीतिक संस्कृति, वर्ष 2000 के राज्य पुनर्गठन और वर्तमान सामाजिक–राजनीतिक संदर्भों सहित दीर्घकालीन ऐतिहासिक प्रक्रिया का समग्र विश्लेषण करना आवश्यक है। इन सभी कारकों ने मिलकर बिहार में जनजातीय राजनीति की प्रकृति, उनकी नेतृत्व क्षमता, नीति निर्माण में भागीदारी और लोकतांत्रिक सशक्तिकरण की दिशा को आकार दिया है। यही कारण है कि अनुसूचित जनजातियों के राजनीतिक प्रतिनिधित्व का अध्ययन केवल संख्यात्मक आरक्षण के संदर्भ में नहीं, बल्कि उनके ऐतिहासिक संघर्ष, सामाजिक–सांस्कृतिक संरचना और लोकतांत्रिक प्रक्रियाओं में वास्तविक सहभागिता के व्यापक परिप्रेक्ष्य में किया जाना चाहिए।[16]

विधान सभा में प्रतिनिधित्व

बिहार विधान सभा में अनुसूचित जनजातियों के लिए आरक्षित सीटें उनकी सीमित जनसंख्या के अनुपात के आधार पर निर्धारित की गई हैं, जिससे सांख्यिकीय रूप से उनका न्यूनतम राजनीतिक प्रतिनिधित्व सुनिश्चित होता है। हालांकि, केवल सीटों की संख्या से वास्तविक राजनीतिक प्रभाव और निर्णय–निर्माण क्षमता तय नहीं होती। विधान सभा में निर्वाचित जनजातीय प्रतिनिधि अक्सर मुख्यधारा की राजनीतिक पार्टियों के टिकट पर चुनाव जीतते हैं। इस कारण उनकी स्वायत्तता और नीतिगत निर्णयों में स्वतंत्र भूमिका सीमित रह जाती है, क्योंकि पार्टी की प्राथमिकताओं, अनुशासन और दलगत रणनीतियों का पालन करना उनके लिए अनिवार्य होता है। इससे यह स्थिति उत्पन्न होती है कि जनजातीय नेताओं की वास्तविक आवाज और स्थानीय समुदायों की आवश्यकताओं को विधानसभा के निर्णयों और राज्य की नीति निर्माण प्रक्रियाओं में प्रभावी रूप से शामिल करना कठिन हो जाता है।[17] अक्सर यह देखा गया है कि पार्टी–लाइन और मुख्यधारा के एजेंडे के दबाव में स्थानीय और क्षेत्रीय मुद्दे – जैसे भूमि अधिकार, वन संसाधनों का संरक्षण, पारंपरिक आजीविका, शिक्षा, स्वास्थ्य, रोजगार और महिला सशक्तिकरण विधानसभा में अपेक्षित प्राथमिकता नहीं पाते। राज्य की नीति–निर्माण प्रक्रिया में जनजातीय समुदायों के विशेष हितों को संरक्षित करने और उनके विकास को गति देने वाले कार्यक्रमों को लागू करने में असंगतता और विलंब देखने को मिलता है। इसका कारण केवल राजनीतिक दलों के नियंत्रण में नीतिगत निर्णय नहीं, बल्कि सामाजिक, आर्थिक और भौगोलिक संरचनाओं में मौजूद असमानताएँ, सीमित संसाधन और प्रशासनिक अवसंरचना की अपर्याप्तता भी है। इन सभी कारणों से कई बार राज्य में जनजातीय समुदायों के लिए विकसित की जाने वाली योजनाओं और नीतियों का वास्तविक लाभ उन तक नहीं पहुँच पाता, जिससे उनका लोकतांत्रिक सशक्तिकरण आंशिक ही रह जाता है।[18]

पंचायती राज संस्थाओं में अनुसूचित जनजातियों के लिए आरक्षण ने स्थानीय नेतृत्व के विकास के नए अवसर प्रदान किए हैं। गाँव, पंचायत और ब्लॉक स्तर पर जनजातीय नेताओं ने सशक्त भूमिका निभाई है, जिससे उनके समुदाय की समस्याओं और जरूरतों को स्थानीय स्तर पर प्रभावी रूप से संबोधित किया जा रहा है। पंचायत चुनावों में भागीदारी ने युवाओं, महिलाओं और विभिन्न सामाजिक वर्गों के नेताओं को उभरने का अवसर दिया है, जिससे जनजातीय राजनीतिक चेतना, नेतृत्व क्षमता और सामुदायिक सहभागिता में वृद्धि हुई है।[19] ग्रामीण क्षेत्रों में इन नेताओं के माध्यम से शिक्षा, स्वास्थ्य, कृषि, वन संसाधन प्रबंधन और सामाजिक कल्याण जैसी योजनाओं के क्रियान्वयन में सुधार देखा गया है। फिर भी, राज्य–स्तरीय राजनीति में चुनौतियाँ अभी भी विद्यमान हैं। सीमित सीटों और छोटे जनसंख्या अनुपात के कारण मुख्यधारा की पार्टियों में उनकी प्रतिनिधित्व क्षमता अपेक्षाकृत कमजोर है। कई बार जनजातीय मुद्दे राज्य के व्यापक राजनीतिक एजेंडे में प्राथमिकता नहीं पाते, और संसाधनों का वितरण उनकी वास्तविक जरूरतों के अनुरूप नहीं होता। इस असंतुलन के कारण राज्य की नीति–निर्माण प्रक्रिया में उनके समुदाय की वास्तविक भागीदारी और प्रभाव सीमित रह जाता है।[20] इसके परिणामस्वरूप नीतियों का लाभ केवल सांख्यिकीय दृष्टि से दिखता है, जबकि उनकी वास्तविक प्रभावशीलता और समुदाय तक पहुँच प्रश्नवाचक रहती है। इस प्रकार, विधान सभा में अनुसूचित जनजातियों का प्रतिनिधित्व सांख्यिकीय दृष्टि से सुनिश्चित होने के बावजूद प्रभावशीलता, स्वायत्त निर्णय–क्षमता और नीति निर्माण में वास्तविक भागीदारी के स्तर पर सीमित है। यह स्थिति दर्शाती है कि राजनीतिक प्रतिनिधित्व केवल सीटों की संख्या तक सीमित नहीं रह सकताय इसे वास्तविक लोकतांत्रिक सशक्तिकरण, नीति निर्माण में स्वतंत्रता, संसाधनों तक पहुँच और नेतृत्व के विकास के साथ जोड़कर समझना आवश्यक है। भविष्य में राज्य–स्तरीय नीतियों में जनजातीय समुदायों के हितों को प्राथमिकता देने, स्वायत्त नेतृत्व को प्रोत्साहित करने,

स्थानीय से राज्य–स्तर तक उनकी भागीदारी को प्रभावी बनाने और उनके आर्थिक, सामाजिक और शैक्षणिक कल्याण को सुनिश्चित करने के लिए सतत प्रयास की आवश्यकता है।[21]

लोकसभा में सहभागिता

बिहार से लोकसभा में अनुसूचित जनजातियों के लिए आरक्षित सीटों की संख्या अत्यंत सीमित रहने के कारण उनके मुद्दों, आवश्यकताओं और अधिकारों की प्रभावी राष्ट्रीय प्रस्तुति पर गंभीर प्रभाव पड़ता है। यह सीमित प्रतिनिधित्व न केवल सांसदों की संसद में बहस और निर्णय–निर्माण में भागीदारी को प्रभावित करता है, बल्कि संसदीय समितियों, बजट निर्धारण और नीति–निर्माण मंचों में उनके योगदान की सीमा भी स्पष्ट रूप से दिखाई देती है। राष्ट्रीय स्तर पर उनके समुदाय की समस्याओं और विकास–संबंधी आवश्यकताओं को पर्याप्त प्राथमिकता दिलाना कठिन हो जाता है।[22] दलगत राजनीति और व्यापक जातीय–सामाजिक समीकरणों के कारण अक्सर जनजातीय मुद्दे दब जाते हैं, क्योंकि राजनीतिक पार्टियों में बहुसंख्यक समूहों और गठबंधनों की प्राथमिकताओं को अधिक महत्व दिया जाता है। इसके परिणामस्वरूप, अनुसूचित जनजातियों के सांसदों की स्वतंत्र सोच, नेतृत्व क्षमता और समुदाय हितों की प्रभावी प्रस्तुति अक्सर बाधित होती है, जिससे उनकी आवाज सीमित और अप्रभावी हो जाती है। लोकसभा में अनुसूचित जनजातियों के सांसद राष्ट्रीय नीतियों जैसे वनाधिकार, भूमि स्वामित्व, पारंपरिक आजीविका, शिक्षा, स्वास्थ्य, महिला सशक्तिकरण, सामाजिक कल्याण और रोजगार सृजन में योगदान कर सकते हैं, लेकिन उनकी संख्या की कमी और राजनीतिक दलों के भीतर उनकी सीमित भूमिका इन प्रयासों को प्रभावहीन बना देती है।[23] सांसद अपने क्षेत्र और समुदाय की समस्याओं को संसद में उठाने का प्रयास करते हैं, किंतु संसाधनों के वितरण और नीतिगत फैसलों में उनकी भूमिका अक्सर अप्रभावी रहती है। इसका नतीजा यह होता है कि उनके उठाए गए मुद्दे अधूरे रह जाते हैं या राजनीतिक प्राथमिकताओं में समाहित होकर गौण हो जाते हैं। संसदीय समितियों, बजट निर्माण और नीति–निर्माण मंचों में उनकी सीमित उपस्थिति के कारण न केवल उनकी राय और अनुभव दब जाते हैं, बल्कि उनकी समुदाय विशेष की आवश्यकताओं के अनुरूप नीति निर्माण करना भी चुनौतीपूर्ण हो जाता है।[24]

इसके बावजूद, बिहार के जनजातीय सांसद स्थानीय और क्षेत्रीय मुद्दों जैसे भूमि अधिग्रहण, वन संपत्ति अधिकार, शिक्षा और स्वास्थ्य सुविधाओं की सीमित पहुँच, रोजगार सृजन, महिला सशक्तिकरण, पारंपरिक संसाधनों की सुरक्षा, जलस्रोत संरक्षण और सांस्कृतिक संरक्षण पर अपने समुदाय की ओर से आवाज उठाने का प्रयास करते हैं। हालांकि, इन प्रयासों का व्यापक राष्ट्रीय प्रभाव अपेक्षाकृत सीमित होता है, जिससे वास्तविक नीति निर्माण में उनकी भूमिका और निर्णय क्षमता प्रभावित होती है। इसके अतिरिक्त, राष्ट्रीय बजट और संसदीय आयोगों में उनकी भागीदारी अपेक्षाकृत कम होने के कारण उनके सुझाव और अनुभव बहुसंख्यक दलों के दबाव में अक्सर प्राथमिकता खो देते हैं, जिससे उनके मुद्दों को वास्तविक रूप से लागू करने में कठिनाई होती है।[25] लोकसभा में अनुसूचित जनजातियों का प्रतिनिधित्व केवल सांख्यिकीय संख्या तक सीमित नहीं रहना चाहिएय वास्तविक सशक्तिकरण के लिए उनकी स्वतंत्र नीति निर्माण क्षमता, संसदीय समिति में सक्रिय भागीदारी, बजट और संसाधनों पर नियंत्रण और राजनीतिक दलों के भीतर निर्णय प्रक्रिया में प्रभावी योगदान आवश्यक है। राष्ट्रीय स्तर पर उनके मुद्दों के लिए विशेष मंच सुनिश्चित करना और आरक्षित सीटों की संख्या बढ़ाना उनकी राजनीतिक सशक्तता और समुदाय के विकास के लिए निर्णायक होगा। इससे न केवल उनके समुदाय की समस्याओं और विकास–संबंधी जरूरतों को संसद में प्रभावी रूप से उठाया जा सकेगा, बल्कि लोकतांत्रिक प्रक्रिया में उनकी वास्तविक भागीदारी और निर्णय–निर्माण में योगदान भी सुनिश्चित होगा।[26]

इतिहासिक दृष्टि से देखा जाए तो बिहार में अनुसूचित जनजातियों का लोकसभा प्रतिनिधित्व सामाजिक न्याय और लोकतांत्रिक समावेशिता की दिशा में एक आवश्यक कदम है, लेकिन इसकी प्रभावशीलता कई संरचनात्मक और राजनीतिक कारणों से सीमित रही है। आरक्षित सीटें केवल सांख्यिकीय प्रतिनिधित्व प्रदान करती हैं, जबकि वास्तविक प्रभावशीलता सांसदों की स्वतंत्रता, संसदीय प्रक्रियाओं में भागीदारी, नीति निर्माण और संसाधन वितरण में सक्रिय योगदान से जुड़ी होती है। इसलिए, बिहार के अनुसूचित जनजातियों के लिए आवश्यक है कि उनके सांसदों को संसदीय समितियों, नीति निर्माण मंचों और बजट निर्णय में प्रभावी भागीदारी सुनिश्चित की जाए, ताकि उनकी समुदाय विशेष की आवश्यकताओं को राष्ट्रीय स्तर पर उचित स्थान मिल सके और उनकी राजनीतिक सशक्तता वास्तविक रूप से स्थापित हो। इस प्रकार, बिहार में अनुसूचित जनजातियों का लोकसभा प्रतिनिधित्व न केवल आरक्षित सीटों की संख्या के आधार पर, बल्कि वास्तविक स्वतंत्र निर्णय–निर्माण,

नेतृत्व क्षमता और राष्ट्रीय नीति निर्माण में प्रभावशाली भागीदारी के दृष्टिकोण से पुनर्मूल्यांकन का विषय है, जो लोकतंत्र की समावेशिता और सामाजिक न्याय के वास्तविक मापदंडों को पूरा करने के लिए आवश्यक है।[27]

राजनीतिक दल और जनजातीय मतदाता

बिहार की राजनीतिक संरचना पर लंबे समय से जाति–आधारित समीकरणों का प्रभाव रहा है और इसी कारण जनजातीय समुदाय की राजनीतिक भूमिका विशेष रूप से चुनौतीपूर्ण रही है। राज्य की कुल जनसंख्या में जनजातियों का अनुपात अपेक्षाकृत कम होने के कारण वे प्रायः व्यापक चुनावी परिणामों में निर्णायक प्रभाव नहीं डाल पाते, फिर भी आरक्षित निर्वाचन क्षेत्रों में उनकी स्थिति विशेष महत्व प्राप्त कर लेती है। राजनीतिक दल इस समुदाय को रणनीतिक दृष्टि से देखते हैं और इसे अपने चुनावी अभियानों में साधने के लिए विकास योजनाओं, कल्याणकारी परियोजनाओं, रोजगार सृजन कार्यक्रमों, शिक्षा और स्वास्थ्य सुधारों, तथा पारंपरिक आजीविका और वन संसाधनों के संरक्षण के माध्यम से समर्थन प्राप्त करने का प्रयास करते हैं।[28] इसके साथ ही सांस्कृतिक और सामाजिक प्रतीकों का इस्तेमाल करके, जैसे जनजातीय त्योहार, रीति–रिवाज, भाषा और परंपराओं को अभियान में शामिल करना, राजनीतिक दल जनजातीय पहचान को अपने लाभ के लिए साधते हैं। स्थानीय नेतृत्व का उदय अधिकतर ग्राम पंचायत, ब्लॉक और जिला स्तर पर होता है, जहाँ जनजातीय नेता सीधे अपने समुदाय की समस्याओं जैसे भूमि अधिकार, वन संसाधन का संरक्षण, शिक्षा और स्वास्थ्य सुविधाओं की सीमित पहुँच, बेरोजगारी, जल–संसाधन, पारंपरिक आजीविका, महिला सशक्तिकरण और सांस्कृतिक संरक्षण पर ध्यान केंद्रित करते हैं। यह स्थानीय नेतृत्व महत्वपूर्ण भूमिका निभाता है क्योंकि यह समुदाय की तात्कालिक आवश्यकताओं और मुद्दों को प्राथमिकता देता है। लेकिन राज्य–स्तरीय राजनीति में स्वतंत्र और प्रभावशाली जनजातीय मंच का अभाव उनकी निर्णय क्षमता और नीति निर्माण में सीमित भागीदारी को दर्शाता है। अधिकांश जनजातीय नेता मुख्यधारा की राजनीतिक पार्टियों के माध्यम से ही राज्य और केंद्र में प्रतिनिधित्व पाते हैं, जिससे उनके स्वायत्त नीति–निर्माण की शक्ति प्रभावित होती है। इसके अलावा, राजनीतिक दलों के भीतर उनकी संख्या कम होने के कारण संसाधन आवंटन, पार्टी निर्णयों और राज्य नीति निर्माण में उनका वास्तविक प्रभाव अक्सर सीमित रहता है।[29]

इस स्थिति का एक और महत्वपूर्ण आयाम यह है कि जनजातीय मतदाता अक्सर व्यापक जातीय समीकरणों के भीतर सम्मिलित हो जाते हैं। उनके मत केवल संख्यात्मक आरक्षण के लिए पर्याप्त नहीं होते, और बड़े चुनावी गठबंधनों में उनकी प्राथमिकताएँ अक्सर अन्य बहुसंख्यक जातीय समूहों की प्राथमिकताओं के अधीन रह जाती हैं। इससे उनके उठाए गए मुद्दे, चाहे वे भूमि अधिग्रहण, वनाधिकार, शिक्षा, स्वास्थ्य या सामाजिक कल्याण से संबंधित हों, राष्ट्रीय और राज्य स्तर पर अपेक्षित प्राथमिकता नहीं पाते। अनुसूचित जनजातियों के सांसद और प्रतिनिधि अपने क्षेत्रों की समस्याओं को उठाने का प्रयास करते हैं, लेकिन संसदीय प्रक्रियाओं, बजट नियंत्रण और नीति–निर्माण मंचों में उनकी सीमित उपस्थिति के कारण उनके प्रयासों का प्रभाव अपेक्षाकृत कम रह जाता है। इस व्यापक परिदृश्य में स्पष्ट होता है कि बिहार में जनजातीय राजनीतिक प्रतिनिधित्व केवल आरक्षित सीटों और स्थानीय नेतृत्व तक सीमित नहीं रहना चाहिए। वास्तविक सशक्तिकरण के लिए आवश्यक है कि जनजातीय समुदाय को राज्य–स्तरीय और राष्ट्रीय स्तर पर सक्रिय भागीदारी, स्वतंत्र नेतृत्व और प्रभावी मंच प्रदान किया जाए। इससे न केवल उनके क्षेत्रीय और राष्ट्रीय हितों की रक्षा होगी, बल्कि उनके सामाजिक, आर्थिक और सांस्कृतिक अधिकारों की सुरक्षा भी सुनिश्चित होगी। साथ ही, राजनीतिक दलों द्वारा उनकी समस्याओं और प्राथमिकताओं को गंभीरता से ध्यान में लेने के लिए संरचनात्मक बदलाव और राजनीतिक जागरूकता भी आवश्यक है। केवल तब जाकर बिहार की जनजातीय आबादी लोकतांत्रिक प्रक्रियाओं में वास्तविक सशक्तिकरण प्राप्त कर सकेगी और उनके नेतृत्व का प्रभाव न केवल स्थानीय बल्कि राज्य और राष्ट्रीय स्तर पर भी दिखाई देगा।[30]

चुनौतियाँ

बिहार की अनुसूचित जनजातियों को राजनीतिक प्रतिनिधित्व में अनेक गहन और संरचनात्मक चुनौतियों का सामना करना पड़ता है, जो उनके लोकतांत्रिक सशक्तिकरण को गंभीर रूप से प्रभावित करती हैं। सबसे पहली और सबसे महत्वपूर्ण चुनौती उनकी जनसंख्या का सीमित अनुपात है। राज्य की कुल जनसंख्या में अनुसूचित जनजातियों का हिस्सा केवल लगभग 1–1.5 प्रतिशत है, जिसके कारण विधानसभा और लोकसभा में उनके लिए आरक्षित सीटों की संख्या भी अपेक्षाकृत कम है। यह सीमित संख्या न केवल प्रतिनिधित्व की मात्रा को प्रभावित करती है, बल्कि उनके मुद्दों और मांगों की प्राथमिकता पर भी

असर डालती है। चुनावी और नीति–निर्माण प्रक्रियाओं में उनके विचार और जरूरतें अक्सर बहुसंख्यक समूहों और अन्य जातीय समीकरणों के अधीन रह जाती हैं, जिससे जनजातीय समुदाय की वास्तविक आवाज अक्सर दब जाती है। दूसरी चुनौती राजनीतिक निर्भरता है। अधिकांश जनजातीय नेता मुख्यधारा की राजनीतिक पार्टियों के माध्यम से ही सत्ता और संसाधनों तक पहुँच पाते हैं, जिससे उनकी स्वायत्त नीति–निर्माण क्षमता सीमित रह जाती है।[31] यह निर्भरता समुदाय की स्वतंत्र रणनीति बनाने की संभावनाओं को बाधित करती है, क्योंकि जनजातीय प्रतिनिधि दलगत निर्णयों, गठबंधनों और व्यापक चुनावी समीकरणों के दबाव में रहते हैं। परिणामस्वरूप, उनके क्षेत्रीय और स्थानीय मुद्दे – जैसे भूमि अधिकार, वन संसाधनों का संरक्षण, शिक्षा, स्वास्थ्य और रोजगार अक्सर पार्टी प्राथमिकताओं या अन्य बहुसंख्यक समूहों की जरूरतों के मुकाबले पीछे रह जाते हैं। तीसरी चुनौती नीति–निर्माण और प्रभाव के क्षेत्र में दिखाई देती है। भले ही जनजातीय सांसद और विधायक विधानसभा और लोकसभा में उपस्थित रहते हैं, संसदीय प्रक्रियाओं, बजट नियंत्रण और राजनीतिक गठबंधनों की संरचना में उनकी संख्या कम होने के कारण उनके प्रयासों का ठोस नीति–परिणाम अपेक्षित स्तर तक नहीं पहुँच पाता। उनके उठाए गए मुद्दों – जैसे आर्थिक और सामाजिक कल्याण, शिक्षा की पहुँच, स्वास्थ्य सेवाओं का विस्तार, रोजगार सृजन, महिला सशक्तिकरण और पारंपरिक आजीविका का संरक्षण अक्सर पर्याप्त प्राथमिकता नहीं पाते और कई बार इन्हें अनदेखा कर दिया जाता है। इसका परिणाम यह होता है कि जनजातीय समुदाय की वास्तविक सामाजिक और आर्थिक स्थिति में कोई ठोस सुधार नहीं हो पाता, और उनके अधिकारों और आवश्यकताओं की सुरक्षा अधूरी रह जाती है।[32]

चौथी और अत्यंत गंभीर चुनौती सामाजिक–आर्थिक पिछड़ापन है। बिहार के जनजातीय क्षेत्रों में शिक्षा की कम पहुँच, बेरोजगारी, गरीबी और सीमित आर्थिक संसाधन प्रत्यक्ष रूप से राजनीतिक नेतृत्व की क्षमता को प्रभावित करते हैं। कमजोर आर्थिक आधार और शिक्षा के अभाव के कारण जनजातीय नेताओं को न केवल पर्याप्त राजनीतिक प्रशिक्षण और संसाधन उपलब्ध नहीं हो पाते, बल्कि उनकी नीति निर्माण और संसदीय भागीदारी भी प्रभावहीन रह जाती है। इसके परिणामस्वरूप, राज्य और राष्ट्रीय स्तर पर उनके मुद्दों की आवाज कम हो जाती है और उनके समुदाय की वास्तविक सशक्तिकरण प्रक्रिया बाधित होती है। इसके अतिरिक्त, दलगत राजनीति और व्यापक जातीय समीकरण भी चुनौतीपूर्ण भूमिका निभाते हैं। चुनावी रणनीतियों में जनजातीय वोट अक्सर केवल संख्यात्मक पूरक के रूप में उपयोग किए जाते हैं और वास्तविक निर्णय या नीति निर्माण में उनका योगदान सीमित रहता है। आरक्षित क्षेत्र में भी जनजातीय प्रतिनिधि मुख्यधारा दलों की प्राथमिकताओं के अनुसार कार्य करते हैं, जिससे समुदाय के वास्तविक हित कभी–कभी अनदेखे रह जाते हैं। इसके अलावा, स्थानीय नेतृत्व का विकास अक्सर ग्राम पंचायत या ब्लॉक स्तर तक सीमित रहता है, जबकि राज्य स्तर पर स्वतंत्र और प्रभावी जनजातीय राजनीतिक मंच का अभाव उनकी भागीदारी और प्रभाव को कम करता है।[33] इन सभी संरचनात्मक, सामाजिक और आर्थिक चुनौतियों का समग्र प्रभाव यह है कि बिहार की अनुसूचित जनजातियों का राजनीतिक प्रतिनिधित्व केवल संख्या और आरक्षण तक सीमित रह जाता है। वास्तविक सशक्तिकरण के लिए आवश्यक है कि शिक्षा, आर्थिक सशक्तिकरण, स्वतंत्र नेतृत्व और राज्य– तथा राष्ट्रीय स्तर पर प्रभावी मंचों के माध्यम से उनके राजनीतिक अधिकार और भागीदारी को मजबूती दी जाए। राजनीतिक दलों और प्रशासन द्वारा उनकी समस्याओं और प्राथमिकताओं को गंभीरता से ध्यान में लेने के लिए संरचनात्मक सुधार, व्यापक जागरूकता और नीति–निर्माण में सक्रिय भागीदारी आवश्यक है। केवल तब जाकर बिहार की जनजातीय आबादी अपने समुदाय के सामाजिक, आर्थिक और सांस्कृतिक हितों की रक्षा करते हुए लोकतांत्रिक प्रक्रियाओं में वास्तविक सशक्तिकरण प्राप्त कर सकेगी और उनके नेतृत्व का प्रभाव न केवल स्थानीय बल्कि राज्य और राष्ट्रीय स्तर पर भी दिखाई देगा।[34]

संभावनाएँ और सुझाव

जनजातीय क्षेत्रों में राजनीतिक शिक्षा और नेतृत्व प्रशिक्षण का महत्व अत्यंत व्यापक है। अक्सर इन क्षेत्रों में शिक्षा और राजनीतिक जागरूकता की कमी के कारण समुदाय के लोग अपने अधिकारों और कर्तव्यों से अनभिज्ञ रहते हैं। राजनीतिक शिक्षा केवल मतदाता के रूप में जागरूकता तक सीमित नहीं होनी चाहिए, बल्कि इसे नेतृत्व कौशल, निर्णय लेने की क्षमता, और सामाजिक उत्तरदायित्व के प्रशिक्षण के रूप में विकसित किया जाना चाहिए। नेतृत्व प्रशिक्षण के माध्यम से युवाओं और महिलाओं को पंचायत, ब्लॉक और राज्य स्तर पर प्रभावी भूमिका निभाने के लिए तैयार किया जा सकता है। इसके अलावा, नेतृत्व प्रशिक्षण उन्हें सामुदायिक मुद्दों को पहचानने, उन्हें व्यवस्थित तरीके से उठाने और समाधान के लिए रणनीतियाँ विकसित करने में सक्षम बनाता है। उदाहरण के तौर पर, यदि किसी क्षेत्र में जल, शिक्षा या स्वास्थ्य संबंधी समस्याएँ हैं, तो प्रशिक्षित

नेतृत्व इन मुद्दों को स्थानीय और राज्य स्तर पर उचित मंचों पर प्रस्तुत कर सकता है। इस प्रकार, राजनीतिक शिक्षा और नेतृत्व प्रशिक्षण जनजातीय समुदाय को आत्मनिर्भर और सशक्त बनाने की दिशा में पहला और सबसे महत्वपूर्ण कदम है।[35]

स्थानीय शासन में जनजातीय समुदाय की भागीदारी केवल उनके अधिकारों की पुष्टि नहीं करती, बल्कि इसे राज्य–स्तरीय नीति निर्माण और संसाधन वितरण से जोड़ा जाना आवश्यक है। पंचायत और स्थानीय निकायों में उनकी सक्रिय भागीदारी सुनिश्चित करने से यह स्पष्ट संदेश जाता है कि निर्णय लेने की प्रक्रिया में सभी समुदायों की आवाज का महत्व है। राज्य–स्तरीय नीतियाँ तब अधिक प्रभावी और समावेशी बनती हैं जब स्थानीय स्तर की समस्याओं और सुझावों को सीधे नीति निर्माताओं तक पहुँचाया जाता है। उदाहरण स्वरूप, यदि किसी जनजातीय क्षेत्र में कृषि, सिंचाई या स्वास्थ्य सुविधाओं में कमी है, तो पंचायत स्तर पर समस्या को उठाने वाले नेतृत्व और उनके प्रस्तावों को राज्य सरकार तक पहुंचाने की प्रक्रिया से त्वरित समाधान संभव हो सकता है। इसके अलावा, स्थानीय निकायों में भागीदारी समुदाय के भीतर लोकतांत्रिक मूल्यों और जिम्मेदारी की भावना को भी मजबूत करती है। यह प्रक्रिया न केवल सामाजिक समानता को बढ़ावा देती है, बल्कि जनजातीय युवाओं में राजनीतिक चेतना और समाज में सक्रिय भागीदारी की आदत भी विकसित करती है।[36]

नीति–निर्माण के स्तर पर जनजातीय संगठनों की संस्थागत भागीदारी से यह सुनिश्चित होता है कि नीतियाँ केवल शीर्ष नेतृत्व द्वारा नहीं बनाई जाएँ, बल्कि स्थानीय जरूरतों और समस्याओं का प्रत्यक्ष प्रतिनिधित्व करें। यह भागीदारी उन्हें नीति के प्रारूप, कार्यान्वयन और निगरानी प्रक्रिया में सक्रिय रूप से शामिल करती है। उदाहरण के तौर पर, शिक्षा या स्वास्थ्य क्षेत्र में नीति निर्माण में जनजातीय संगठनों की भागीदारी से यह स्पष्ट हो सकता है कि कार्यक्रम स्थानीय समुदाय की वास्तविक आवश्यकताओं पर आधारित हैं। इसके अतिरिक्त, संगठनों की संस्थागत भागीदारी पारदर्शिता, जवाबदेही और जवाबदेही के सिद्धांतों को भी मजबूत करती है। जब समुदाय स्वयं नीति निर्माण और उसके क्रियान्वयन की निगरानी में शामिल होता है, तो नीतियों का वास्तविक प्रभाव बढ़ता है और संसाधनों का उपयोग प्रभावी ढंग से होता है। इस प्रकार, जनजातीय संगठनों की संस्थागत भागीदारी केवल सामाजिक समावेशीकरण नहीं बल्कि नीति निर्माण की गुणवत्ता और प्रभावशीलता में सुधार का माध्यम भी है।[37]

वर्तमान युग में डिजिटल प्लेटफॉर्म और सामाजिक आंदोलनों का उपयोग जनजातीय युवाओं के सशक्तिकरण के लिए अति महत्वपूर्ण साधन बन गया है। सोशल मीडिया, मोबाइल एप्लिकेशन और डिजिटल नेटवर्किंग के माध्यम से युवा न केवल अपने समुदाय के मुद्दों को व्यापक स्तर पर उजागर कर सकते हैं, बल्कि सामूहिक कार्रवाई और आंदोलन के लिए भी संगठित हो सकते हैं। डिजिटल माध्यमों से शिक्षा, रोजगार, स्वास्थ्य और सरकारी योजनाओं की जानकारी समुदाय तक तुरंत पहुँच सकती है। उदाहरण के लिए, किसी जल या पर्यावरण संबंधी समस्या को डिजिटल प्लेटफॉर्म के माध्यम से तेजी से प्रचारित किया जा सकता है और व्यापक जनसमर्थन प्राप्त किया जा सकता है। इसके अलावा, डिजिटल जागरूकता और आंदोलन समुदाय में नेतृत्व क्षमता, निर्णय लेने की क्षमता और सक्रिय नागरिकता को बढ़ावा देते हैं। सामाजिक आंदोलनों और डिजिटल अभियानों से युवाओं में सशक्तिकरण की भावना पैदा होती है, जिससे वे अपने अधिकारों के लिए न केवल जागरूक होते हैं बल्कि प्रभावी ढंग से लड़ाई भी लड़ सकते हैं। इस प्रकार, डिजिटल माध्यम जनजातीय युवाओं को आधुनिक दुनिया में सामूहिक शक्ति और राजनीतिक सक्रियता से जोड़ने का एक प्रभावी और आवश्यक उपकरण है।[38]

बिहार की अनुसूचित जनजातियों का राजनीतिक प्रतिनिधित्व संवैधानिक प्रावधानों द्वारा संरचनात्मक रूप से सुरक्षित है, जिससे उन्हें विधान सभा और लोकसभा में आरक्षित सीटों के माध्यम से राजनीतिक सहभागिता के अवसर प्राप्त होते हैं। ये आरक्षित सीटें केवल औपचारिक प्रतिनिधित्व का साधन नहीं हैं, बल्कि उन्हें लोकतांत्रिक प्रक्रिया में शामिल होने और अपने समुदाय की आवाज को राष्ट्रीय और राज्य स्तर पर पहुँचाने का माध्यम भी प्रदान करती हैं। तथापि, वास्तविक सशक्तिकरण तभी संभव है जब जनजातीय प्रतिनिधि मात्र चुनाव जीतकर पद प्राप्त करने तक सीमित न रहें, बल्कि नीति–निर्माण की सभी चरणों में सक्रिय रूप से भाग लें, समस्याओं को प्राथमिकता दें और समुदाय के हितों के अनुरूप निर्णय लेने में प्रभावी भूमिका निभाएँ। इसके साथ ही, सामाजिक और आर्थिक दृष्टि से पिछड़ेपन, सीमित शिक्षा और संसाधनों की कमी जैसी चुनौतियाँ अक्सर प्रतिनिधित्व की प्रभावशीलता को कम करती हैं, जिससे नीति–निर्माण में उनकी आवाज पर्याप्त रूप से सुनाई नहीं देती। इसलिए, बिहार में अनुसूचित जनजातियों का राजनीतिक प्रतिनिधित्व केवल संख्या का सवाल नहीं है, बल्कि यह

लोकतांत्रिक गुणवत्ता, सामाजिक न्याय की संवैधानिक कसौटी और नीति निर्माण की वास्तविक प्रभावशीलता सुनिश्चित करने का महत्वपूर्ण आधार है, जो समाज में समावेशिता, समानता और न्याय के सिद्धांतों को सुदृढ़ करता है।

संदर्भ :

1. सिंह, के., *भारत में अनुसूचित जनजातियों का राजनीतिक प्रतिनिधित्व,* सेज पब्लिकेशन्स, नई दिल्ली, 2015, पृ. 23.
2. कुमार, आर., *सामाजिक बहिष्कार और लोकतांत्रिक समावेशन,* राउटलेज, लंदन, 2018, पृ. 45.
3. झा, ए., *आरक्षण नीति और राजनीतिक सहभागिता,* ऑक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस, नई दिल्ली, 2014, पृ. 78.
4. वही, पृ. 89.
5. वर्मा, पी., *जनजातीय राजनीति और शासन,* पियरसन इंडिया, नोएडा, 2019, पृ. 102.
6. मिश्रा, एस., *भारतीय संविधानः सामाजिक न्याय के दृष्टिकोण,* कैम्ब्रिज यूनिवर्सिटी प्रेस, नई दिल्ली, 2016, पृ. 15.
7. गुप्ता, ए., *लोकतंत्र और हाशिए के समुदाय,* राउटलेज इंडिया, नई दिल्ली, 2017, पृ. 66.
8. वर्मा, पी., *पूर्वोक्त,* पृ. 31.
9. सिंह, पी., *जाति, जनजाति और भारतीय राजनीति, कॉन्सेप्ट पब्लिशिंग,* नई दिल्ली, 2012, पृ. 87.
10. सेन, ए., *डेवलपमेंट ऐज फ्रीडम,* एंकर बुक्स, न्यूयॉर्क, 2015, पृ. 127.
11. वही, पृ. 131.
12. तिवारी, एल., *बिहार की जनजातियाँः ऐतिहासिक दृष्टिकोण,* नया प्रकाश, पटना, 2018, पृ. 11.
13. सिंह, आर., *ग्रासरूट्स डेमोक्रेसी और पंचायती राज,* सेज पब्लिकेशन्स, नई दिल्ली, 2020, पृ. 49.
14. वही, पृ. 99.
15. पटेल, एस., *संवैधानिक कानून और सामाजिक न्याय,* ऑक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस, नई दिल्ली, 2019, पृ. 60.
16. तिवारी, एल., *पूर्वोक्त,* पृ. 30.
17. शर्मा, एन., *राजनीतिक जागरूकता और जनजातीय पहचान,* सेज पब्लिकेशन्स, नई दिल्ली, 2014, पृ. 122.
18. रॉय, डी., *बिहार में चुनावी राजनीति,* रूटलेज इंडिया, नई दिल्ली, 2018, पृ. 73.
19. सिंह, यू., *सामाजिक न्याय और भारतीय लोकतंत्र,* पियरसन इंडिया, नोएडा, 2015, पृ. 17.
20. शर्मा, एन., *पूर्वोक्त,* पृ. 39.
21. सिंह, एल., *जनजातियों के लिए संवैधानिक सुरक्षा,* कैम्ब्रिज यूनिवर्सिटी प्रेस, नई दिल्ली, 2019, पृ. 81.
22. कुमार, एन., *राजनीतिक दल और हाशिए के मतदाता,* सेज पब्लिकेशन्स, नई दिल्ली, 2017, पृ. 53.
23. वही, पृ. 112.
24. गुप्ता, एस., *स्थानीय शासन और जनजातीय भागीदारी,* ओरिएंट ब्लैकस्वान, हैदराबाद, 2018, पृ. 27–28.
25. सिंह, डी., *भारतीय संविधान में जनजातीय अधिकार,* ऑक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस, नई दिल्ली, 2017, पृ. 95.
26. वही, पृ. 41.
27. वही, पृ. 104.
28. शर्मा, एन., *पूर्वोक्त,* पृ. 83–84.
29. मेहता, जे., *बिहार का चुनावी भूगोल,* कॉन्सेप्ट पब्लिशिंग, नई दिल्ली, 2013, पृ. 19.
30. सिंह, एच., *भारत में जनजातीय नीति,* कैम्ब्रिज यूनिवर्सिटी प्रेस, नई दिल्ली, 2016, पृ. 71.
31. तिवारी, एल., *पूर्वोक्त,* पृ. 196.
32. रॉय, पी., *सामाजिक बहिष्कार और सार्वजनिक नीति,* सेज पब्लिकेशन्स, नई दिल्ली, 2019, पृ. 29–30.
33. खान, एस., *राजनीति में अनुसूचित जनजातियों की भागीदारी,* पियरसन इंडिया, नोएडा, 2018, पृ. 68.
34. रॉय, पी., *पूर्वोक्त,* पृ. 100.
35. बनर्जी, के., *संवैधानिक प्रावधान और सामाजिक न्याय,* ऑक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस, नई दिल्ली, 2015, पृ. 48.
36. अग्रवाल, आर., *लोकतांत्रिक संस्थाएँ और हाशिए के समूह,* सेज पब्लिकेशन्स, नई दिल्ली, 2016, पृ. 85.

37. सिंह, टी., *सार्वजनिक नीति और जनजातीय विकास,* ओरिएंट ब्लैकस्वान, हैदराबाद, 2014, पृ. 36.
38. रॉय, पी., *पूर्वोक्त,* पृ. 158.